मलयज

जन्म	:	1935 ।
निधन	:	26 अप्रैल 1982 ।
जन्म-स्थान	:	'महुई', आजमगढ़, उत्तरप्रदेश ।
मूलनाम	:	भरतजी श्रीवास्तव ।
माता-पिता	:	प्रभावती एवं त्रिलोकी नाथ वर्मा ।
शिक्षा	:	एम० ए० (अंग्रेजी), इलाहाबाद विश्वविद्यालय, उत्तरप्रदेश।
विशेष	:	छात्र जीवन में क्षयरोग से ग्रसित । ऑपरेशन में एक फेफड़ा काटकर निकालना पड़ा । शेष जीवन में दुर्बल स्वास्थ्य और बार-बार अस्वस्थता के कारण दवाओं के सहारे जीते रहे ।
स्वभाव	:	अंतर्मुखी, प्रायः अवसादग्रस्त किंतु कठिन जिजीविषाधर्मी, गंभीर, एकांतप्रिय और मितभाषी।
विशिष्ट संपर्क	:	शमशेर बहादुर सिंह, विजयदेव नारायण साही, 'परिमल' (संस्था, इलाहाबाद) ।
वृत्ति	:	कुछ दिनों तक के० पी० कॉलेज, इलाहाबाद में प्राध्यापन । 1964 में कृषि मंत्रालय, भारत सरकार की अंग्रेजी पत्रिकाओं के संपादकीय विभाग में नौकरी ।
विशेष अभिरुचि	:	ड्राइंग और स्केचिंग । संगीत, कला प्रदर्शनी एवं सिनेमा में गहरी रुचि ।
संपादन	:	'लहर' कविता का विशेषांक (1960), 'शमशेर' पुस्तक का सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के साथ सह-संपादन।
कृतियाँ	:	कविता : जख्म पर धूल (1971), अपने होने को अप्रकाशित करता हुआ (1980) । आलोचना : कविता से साक्षात्कार (1979), संवाद और एकालाप (1984), रामचंद्र शुक्ल (1987) । सर्जनात्मक गद्य : हँसते हुए मेरा अकेलापन (1982), डायरी ;3 खंड, संपादक : डॉ० नामवर सिंह ।

सन् 1960 के आसपास 'नई कविता' आंदोलन के अंतिम दौर में मलयज का उदय एक कवि के रूप में हुआ था । आरंभ में भाषा, रचनाशैली और संवेदना के तल पर वे नई कविता के परवर्ती रूपों के प्रभाव में थे; किंतु आगे के सामाजिक-राजनीतिक विकास के साथ आए साहित्यिक यथार्थ संबंधी परिवर्तनों के बीच एक ओर वे अपनी कविता में रचना-दर-रचना अनेक महत्त्वपूर्ण बदलावों से गुजरते रहे तो दूसरी ओर उनकी आलोचना का विकास हुआ जो हिंदी में सातवें-आठवें दशक की उपलब्धि कही जा सकती है। कवि के रूप में सृजन प्रक्रिया के दौरान वे जो कुछ अनुभव करते थे उसे ही निरीक्षण-पर्यवेक्षण के द्वारा आलोचना में रूपांतरित करते थे । इस प्रकार मुक्तिबोध की तरह उनकी कविता और आलोचना एक ही समग्र सर्जन-प्रक्रिया की द्विविध अभिव्यक्तियों के रूप में एक दूसरी के साक्ष्य या प्रमाण की तरह विकसित हुईं । मलयज के लिए कविता, और स्वभावतः आलोचना भी, व्यक्ति के भीतर और बाहर के परंपरागत स्रोतों की अवधारणाओं को एक और अखंड करती हुई रूपाकार ग्रहण करती है । एक कवि के रूप में जहाँ वे अपनी काव्यानुभूति के उन रासायनिक तत्त्वों और प्रक्रियाओं के प्रति सचेत और जागरूक रहते हैं जिनमें परिवेश और बाह्य यथार्थ के अंशावदान हैं तो एक आलोचक के रूप में वे तीक्ष्ण संवेदनशीलता और गहन मानवीय

लगाव के साथ रचना के आंतरिक संसार में उतरकर सर्जनात्मक स्रोतों, संश्लेषों और प्रक्रियाओं पर सहृदय सहानुभूति एवं सजग बौद्धिकता के साथ दृष्टि जमाए रखते हैं । सहज ही उनकी आलोचना में कविता का समतुल्य सुख प्राप्त होता है । अपने जीवन के अंतिम दस-एक वर्षों में कवि-आलोचक अशोक वाजपेयी और उनके संपादन में निकलने वाली पत्रिका 'पूर्वग्रह' से जुड़कर उन्होंने हिंदी आलोचना में आई जड़ता, परजीविता और छद्म के विरुद्ध 'सर्जनात्मक आलोचना' के आह्वान और अभियान में प्रमुख भूमिका निभाई । आठवें दशक में हिंदी आलोचना को नई भाषा, नई तकनीक, नई विश्लेषण पद्धति और एक स्फूर्तिपूर्ण रचनात्मक ऊष्मा देने में मलयज की भूमिका रेखांकित करने योग्य है । रचना में भाषा की सघनता, अनुभूति का सर्जनात्मक तनाव और अंतर्निष्ठा मलयज के आगे हमेशा महत्त्वपूर्ण बनी रही । रचना को मूल्यवत्ता प्रदान करनेवाले इन तत्त्वों पर बल देने का एक सुखद परिणाम आगे यह हुआ कि व्यापक तौर पर रचना जगत में अनेक स्तरों पर हो रहे अवमूल्यन और क्षरण के प्रति रचनाकारों-आलोचकों और पाठकों में भी एक जागरूकता आई । अवमूल्यन और क्षरण के कारणों की मीमांसा बढ़ चली और रचना-आलोचना और पाठकीयता में आत्मसजग आलोचनात्मकता की प्रवृत्ति का विकास हुआ । साहित्य में परिवर्तन और विकास स्वायत्त नहीं होता; वह सामाजिक परिवर्तन और विकास से जुड़ा होता है । किंतु यह भी सच है कि साहित्य, कला आदि के परिवर्तन और विकास भी समाज को परोक्षत: प्रभावित करते हैं । बीसवीं शती के अंतिम दशकों से शुरू हुआ परिवर्तन और विकास का सिलसिला अभी जारी है । इसे समझने के लिए कला, साहित्य और समाज को एक साथ समग्रता में पक्षधर पूर्वग्रहों से मुक्त होकर देखना होगा । मलयज जैसे लेखक और उनके साहित्य की यही सिखावन है ।

मलयज की कविता और आलोचना से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं उनकी डायरियाँ । एक प्रतिभाशाली, संवेदनशील कवि-आलोचक के आत्मनिर्माण का वे प्रामाणिक अंतरंग साक्ष्य हैं । उन्हें पढ़कर यह जानना और अनुभव कर पाना संभव होता है कि साहित्यकर्म निरा शब्द व्यापार नहीं है । साहित्य लिखने और साहित्यकार बनने के लिए लेखन से परे जीवन में भी कितना सजग, सावधान और स्वाधीन होना जरूरी है । एक व्यक्ति को कितना खुला, ईमानदार और विचारशील होना चाहिए । व्यक्ति के क्या दायित्व हैं और अपने दायित्वों के प्रति कैसा लगाव, कैसी सन्नद्धता होनी चाहिए । प्रस्तुत हैं मलयज की डायरी के कुछ छोटे से अंश । इनसे लगभग डेढ़ हजार पृष्ठों में फैली हुई मलयज की डायरियों की एक छोटी सी झलक मिलती है ।

◆ ◆ ◆

"मलयज अत्यंत आत्मसजग किस्म के बौद्धिक व्यक्ति थे । डायरी लिखना मलयज के लिए जीवन जीने के कर्म जैसा ही था । डायरी की शुरुआत 15 जनवरी 1951 से शुरू होती है, जब उनकी आयु केवल 16 वर्ष थी । डायरी लिखने का यह सिलसिला 9 अप्रैल 1982 तक चलता रहा, जब उन्होंने अंतिम साँस ली । अर्थात 47 साल तक के जीवन में 32 साल तक मलयज ने डायरी लिखी है ।.....डायरी के ये पृष्ठ कवि-आलोचक मलयज के समय की उथल-पुथल और उनके निजी जीवन की तकलीफों-बेचैनियों के साथ एक गहरा रिश्ता बनाते हैं ।.....इस डायरी में एक औसत भारतीय लेखक के परिवेश को आप उसकी समस्त जटिलताओं में देख सकते हैं ।"

– विजय कुमार

हँसते हुए मेरा अकेलापन

''डायरी लेखन मेरे लिए एक दहकता हुआ जंगल हो, एक तटस्थ घोंसला नहीं, जिसमें अपने पर घुसेड़ मैं जब चाहूँ, चुपके पड़ा रहूँ। डायरी मेरे कर्म की साक्षी हो, मेरे संघर्ष की प्रवक्ता हो यही मेरी सुरक्षा है - डायरी के कोरे पृष्ठों पर अंकित शब्दों में नहीं, उनपर जलती आग के बीच।''

रानीखेत :

14 जुलाई 56

सुबह से ही पेड़ काटे जा रहे हैं। मिलिट्री की छावनी के लिए ईंधन–पूरे 'सीजन' और आगे आनेवाले जाड़ों के लिए भी ! पेड़ गोकि पूरे हरे तो नहीं लेकिन चारों ओर के सरसब्ज पेड़ों ने मानो उदारतावश अपने में से थोड़ी-थोड़ी हरिताभा प्रदान कर उन्हें भी अपने गिरोह में मिला लिया है–अपने उदात्त और विशाल और प्राणवान गिरोह में ! उस गिरोह की आत्मा एक है, क्योंकि उस आत्मा का नाद एक है ..... वे जब बोलते हैं, तब एक भाषा में, गाते हैं, तब एक भाषा में; रोते हैं, तब भी एक भाषा में...

कुहरा है, खूब घना और खूब सफेद–दृष्टि के विस्तार को बीच ही से कच्चे फीते की तरह काट देता है।.....किंतु ये ध्वनियाँ ?.....इन ध्वनियों की मेरे दरवाजे पर दस्तकें ? यह अस्फुट याचना जो दीवार पर टँगे उस 'कुमाऊँ ग्लोरी' के खूबसूरत कैलेंडर में है .....यह कोने में टिकाकर रखी हुई ऐशवुड की छड़ी रह-रह काँपती क्यों है ? नोटबुक के पन्ने यूँ बेतरह फड़फड़ाते क्यों हैं ? जिनमें बेशुमार पत्तियों और फूलों की रेखानुकृतियाँ स्मृति के उदास गुलदानों में बतौर गुलदस्ते आज भी जिंदा हैं।

मौसम एकदम से ठंढा हो गया है। बूँदा-बाँदी और हवा। .....एक कलाकार के लिए यह निहायत जरूरी है कि उसमें 'आग' हो....और वह खुद 'ठंढा' हो।

अब देखिए न ! पोस्ट ऑफिस के सामने–बिलकुल सामने, बाईं ओर - ग्यारह अदद देवदार हैं, पूरे ग्यारह गिनकर !.....जैसे एकादश रुद्र ! खामख्वाह ही सोचता हूँ कि वे दस क्यों न हुए या बारह क्यों नहीं ? जब भी उधर से गुजरा हूँ, यही ख्याल उमड़ते हैं।–यानी मैं किस कदर 'बोर' हूँ...

किसी चित्रकारी की किताब में रंग सिद्धांत के विषय में पढ़ते-पढ़ते मालूम हुआ कि शोख और भड़कीले रंग संवेदनाओं को बड़ी तेजी से उभारते हैं, उन्हें बड़ी तेजी से चरम बिंदु की ओर ले जाते हैं

और उतनी ही तेजी से उन्हें ढाल की ओर खींचते हैं.....

मैं संयत हूँ...यानी 'ठंढा' । अभी जब बाहर निकलूँगा तब खूब घना और खूब सफेद कुहरा मुझसे लिपट जाएगा, सब ओर छा जाएगा । मेरे अतीत और मेरे वर्तमान का समीकरण वह भविष्य जो फीते की तरह बीच ही से कटा हुआ है, इस कुहरे में समा जाएगा–अज्ञात भाषा में अज्ञात गान और अज्ञात रुदन लिए हुए कागज के एक नन्हें से टुकड़े की तरह–इस कुहरे की ताबीज में ।

तब तक ईंधन यानी 'आग' पूरे 'सीजन' और आगेवाले जाड़ों के लिए भी चाहिए ।

(2)

18 जून 57

एक खेत की मेड़ पर बैठी कौवों की कतार देखकर :

...उम्र की फसल पककर तैयार–सपनों का सुहाना रंग अब जर्द पड़ चला है । एक मधुर आशापूर्ण फल जिसने अनुभव की तिताई के छिलके उतार फेंके हैं : विगत के वे मूल्य, जिनपर बचपना कभी सान धरता था, कितने बेमानी भोंथरे हो उठे हैं...जैसे कि वह जड़ पौधे का आत्मदान स्वीकार कर लेने के बाद, विकास की एक सीमा के उधर....

हवाओं में ये कैसी महक है ! धरती में ये कैसी चिलक है कि फसलें कटने भी नहीं पाईं : जड़ों को उखाड़कर किसी चाणक्य ने दही छिड़का ही नहीं और ये बाँट-बखरेदार !

प्रश्न हैं वे, बालों के गुच्छे नहीं जिन्हें जब चाहा जुनून में सिर-से नोच लिया !

(3)

4 जुलाई 62: कौसानी

आज भी कोई चिट्ठी नहीं । तबियत किस कदर बेजार हो उठी है । दोपहर तक आशा रहती है कि कोई चिट्ठी आएगी पर भारी-भारी सी दोपहर बीत जाती है और कुछ नहीं होता । इतनी भी ताब नहीं कि डाकघर में ही जाकर पूछ आऊँ ।....

अजब सी बेचैनी मन में होती है । उस वक्त सारा परिवेश एक मिटे हुए अक्षर की तरह लगता है–किसी शब्द के बीच एक अक्षर की तरह जिसके मिट जाने से पूरे शब्द का अस्तित्व संदिग्ध हो उठता है ।

ऐसी मन:स्थिति में कुछ काम वैसे भी नहीं होने का, यूँ भी पहले ही कौन तीर मार रहे थे....चिंतन और रचना की सब प्रक्रिया कुंठित है । एक आशंका में हर दम झूलता रहनेवाला मन जिसमें हर आहट रहस्यमय लगती है, हर खटका चौंका जाता है, अठखेलियाँ करती हुई हवा कनफुसियाँ सी करती लगती है, जैसे मेरे विरुद्ध कोई साजिश ठाने बैठे है ।.....

(4)

5 जुलाई 62 : कौसानी

कल यहाँ के सूचना केंद्र में एक अधेड़ से व्यक्ति ने आकर्षित किया । प्राय: वे और मैं एक ही

समय शाम को वहाँ अखबार देखने पहुँचते थे । कल पुस्तकों के छपने-वपने की बात किसी को तेज स्वर में बता रहे थे तो बरबस ध्यान खिंचा । परिचय पूछा...बलभद्र ठाकुर ! नाम से अपरिचित नहीं था, उनकी एक किताब शमशेरजी के यहाँ देखी थी । मुझे विद्यार्थी जानकर अपने अन्य श्रोताओं को भूल वे धीरे-धीरे आत्मश्लाघा के मूड में उतर आए । उनकी पुस्तकों का जनता में कैसा स्वागत हुआ, किस बड़े ओहदेदार व्यक्ति ने पढ़कर क्या कहा, फलाने अंडर-सेक्रेटरी उसे माँगकर पढ़ने ले गए तो ऐसी पसंद आई कि लौटाया तक नहीं....आदि-आदि के प्रसंग उत्साह से सुनाते रहे । सुनकर रस आता रहा । उनके चेहरे की छटा अच्छी लगी—चश्मे के भीतर उनकी आँखें लेखक के सहज गर्व से भर उठी थीं ।...ठिगना गठा हुआ शरीर, रंग साँवले से कुछ अधिक । लुंगी और जैकेट पहने ।....

सात बज रहे थे, खाना भी पकाना था, क्योंकि भूख लग आई थी । अतः विदा ली...

शाम को घटा उमड़ी और थोड़ी बारिश ।...

घंटे-डेढ़ घंटे नेगी परिवार के साथ बिताया । घर की बूढ़ी माँ जीवट की कामकाजी महिला हैं । उनका एक स्केच बिठाकर बनाया और उन्हें दिया । उनके मकान का एक रंगीन स्केच बनाया था—जगतसिंह की भाभी ने माँगा तो देना पड़ा ।....मैं रेडियो से गाने सुनता रहा उधर चाय-पानी का प्रबंध होने लगा । अपनी स्थिति के अनुकूल (और वह तो मैं देख ही रहा था) मेहमाननवाजी का यह भाव मन को अच्छा लगा...मैं उनका सिर्फ किराएदार न था, एक मेहमान भी था । दुख इस बात का हुआ कि इस परिवार के साथ पहले क्यों नहीं घुला-मिला । अब तो शायद परसों तक चल ही देना होगा ।

यहाँ के स्कूल के दो अध्यापकों से परिचय । टिपिकल पहाड़ी जन । सीधे-सादे तरल—बिलकुल पानी जैसे, जिनमें अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दिख जाएँ । बुराइयाँ—बल्कि कमजोरियाँ कहना अधिक उचित होगा—ऐसी कि प्यार करने की तबियत हो ।....कुचली हुई आकांक्षाओं के व्यक्ति जो किसी तरह 'दिन काट रहे हैं' । अधिक बलबूते वाले आदमी नहीं रहे थे, अतः किसी बड़े सपने के भंग होने का दर्द नहीं, बस एक रिसन है—एक स्थिर जीवन की चढ़ाई, जिस पर रोज-रोज चढ़ने-उतरने का अभ्यास हो गया है इसलिए वह अखरता नहीं, पर यह नहीं अखरना किसी अंतःस्फूर्ति के कारण न होकर एक अपना ली गई विवशता है, एक समझौता जो बस एक बेबूझ सी सर्द आह छोड़ जाता है, उस पर ठहरकर चिंतन नहीं करता—चिंतन करने की कोई गुंजाइश ही नहीं । सब कुछ यूँ ही चल रहा है—बहुत कट गई, बाकी भी कट जाएगी ।

(5)

8 जुलाई 62 : कौसानी

....कल शाम से रोज इसी समय एक बहुत प्यारी सी गंध हवा में उड़कर मेरे बारजे तक आती है—इतनी कोमल और मिठास सी लिए हुए कि आँखें खुद-ब-खुद क्षणों के लिए बंद हो जाती हैं ।

(6)

दिल्ली : 30 अगस्त 76

सेब बेचती लड़की । उसकी कलाइयों में इतना जोर न था कि वह चाकू से सेब की एक फाँक काटकर ग्राहक को चखाती । दो-चार बार उसने कोशिश की, फिर एक खिसियाई हुई हँसी हँसकर चाकू

मेरे हाथ में थमा दिया–'खुद ही चख लो, मीठे हैं सेब ।' सेब तो वैसे ही मीठे थे–उनका रंग और खुशब देखकर उनकी किस्म मैं पहले ही जान चुका था । पर वह सात-आठ साल की लड़की जिसने शायद नई-नई दुकान सँभाली थी या जिसे हाल में ही दुकान सँभलवा दी गई थी, अपने ग्राहक को अपने सौदे के बारे में शक की जरा गुंजाइश न देने को आतुर थी ।

मैंने उसके पतले लगभग झँवराए जिस्म, उसके चेहरे और खुली कलाइयों को देखा और उन सेबों की तरफ, जिसके ढेर को जल्दी से जल्दी कम करने की ललक उसकी आँखों में थी ।

(7)

10 मई 78

आदमी यथार्थ को जीता ही नहीं, यथार्थ को रचता भी है ।

–ये मेरे बच्चे मेरे रचे हुए यथार्थ हैं । इनसे जुड़ी हुई फिक्रें और सरोकार मेरे अपने रचे हुए हैं, और ये सब मुझसे रचे जाकर मुझसे स्वतंत्र हो गए हैं । इस अपने रचे हुए यथार्थ से मैं बँध गया हूँ और उसका दबाव अपनी नाड़ी में प्रतिपल महसूस करता हूँ ।

रचा हुआ यथार्थ भोगे हुए यथार्थ से अलग है । भोगा हुआ यथार्थ एक दिया हुआ यथार्थ है । हर आदमी अपना-अपना यथार्थ रचता है और उस रचे हुए यथार्थ का एक हिस्सा दूसरों को दे देता है । हरएक का भोगा हुआ यथार्थ दूसरों के दिए हुए हिस्से-हिस्से यथार्थ का एक सामूहिक नाम है । इसीलिए यथार्थ को रचना एक नैतिक कर्म है, क्योंकि वह एक सामाजिक सत्य की भी सृष्टि करता है ।

यथार्थ के इस लेन-देन का नाम ही संसार है । इस संसार से संपृक्ति एक रचनात्मक कर्म है । इस कर्म के बिना मानवीयता अधूरी है ।

हर आदमी उस संसार को रचता है जिसमें वह जीता है और भोगता है । आदमी के होने की शर्त यह रचा जाता, भोगा जाता संसार ही है ।

रचने और भोगने का रिश्ता एक द्वंद्वात्मक रिश्ता है । एक के होने से ही दूसरे का होना है । दोनों की जड़ें एक दूसरे में हैं और वहीं से वे अपना पोषण रस खींचते हैं । दोनों एक दूसरे को बनाते हैं । दोनों एक दूसरे को मिटाते हैं । दोनों एक दूसरे को बनाते-मिटाते हैं ।

(8)

11 जून 78

मेरे भीतर इन दिनों कितने शब्द भरे पड़े हैं, या अर्थ ? जो लिखता हूँ अगर उसमें शब्द अधिक हैं तो अर्थ कम, या अगर अर्थ ज्यादा हैं तो उसके हिसाब से शब्द कम पड़ रहे हैं ।

डायरी में शब्दों और अर्थों के बीच तटस्थता कम रहती है, इसी से उसका लिखा जाना मुमकिन नहीं, याकि मुश्किल है ? लिखना मात्र एक तटस्थता की माँग रखता है । डायरी लिखना भी ।

कभी-कभी मैंने कविता के मूड में डायरी लिखी है, तब शब्द और अर्थ के बीच दूरी का अहसास किसी माप के अनुसार निर्धारित नहीं होता, शब्द अर्थ में और अर्थ शब्द में ढलते चले जाते हैं, एक दूसरे

को पकड़ते, एक दूसरे को छोड़ते हुए । जिस पल में वे एक दूसरे का हाथ छोड़ देते हैं वह आकाश हाता है और उसमें रचना बिजली के फूल की तरह खिल उठती है । जिस पल शब्द और अर्थ एक दूसरे का हाथ पकड़ते हैं वह धरती का क्षण होता है और उसमें रचना अपनी जड़ पा लेती है, अपने प्रस्फुटन का आदिस्रोत ।

(9)

20 जून 78

सुरक्षा डायरी में भी नहीं । वहाँ सिर्फ पलायन है । सुरक्षा अगर कहीं हो सकती है तो बाहर सूरज की रोशनी में, अँधेरे में नहीं । अँधेरे में सिर्फ छिपा जा सकता है, एक पल-पल की धुकधुकी के साथ । सुरक्षा चुनौती को झेलने में ही है, लड़ने में, पिसने में और खटने में । बचाने में नहीं, अपने को सेने में नहीं ।

(10)

9 दिसंबर 78

जो कुछ लिखता हूँ वह सबका सब रचना नहीं होती । ये पृष्ठ तो और भी नहीं । जितना कुछ मैं भोगता हूँ उस सबमें रचना के बीज नहीं होते । उस भोगे हुए अनुभव का कोई वंश आगे–रचना में–नहीं चलता । जो आगे चले और मुझे भी साथ आगे ले चले–चाहे एक संभावना में–वही रचना है । शेष सिर्फ दस्तावेज ।

लेकिन यह दस्तावेज भी जरूरी है । दस्तावेज रचना का कच्चा माल है । सिर्फ इतना ही नहीं, दस्तावेज : मेरे जीवन का भोग-अनुभव : रचना रूपी करेंसी को वास्तविक मूल्य प्रदान करने वाला मूलधन है । वह मिट्टी है जिसके बिना न बीज की सत्ता है न बीज अपने को चरितार्थ करता है । रचना में छिपा हुआ भविष्य मिट्टी के अतीत में सुगबुगाता है ।...

जंगले से आती हुई धूप–मेरे बदन पर आड़ी तिरछी लकीरें बनाती हुई धूप–और मेरे बालों से खेलती हुई तीसरे पहर की हवा, शीतल और स्वच्छ, इनकी कोई राजनीति नहीं है ।

(11)

25 जुलाई 80

इधर-पता नहीं कितने सालों से–मेरे जीवन का केंद्रीय अनुभव लगता है कि डर है । मैं भीतर से बेतरह डरा हुआ व्यक्ति हूँ ।

इस डर के कई रूप हैं ।

बुरी-बुरी बीमारियों का डर–घर का जब भी कोई आदमी बीमार पड़ता है मुझे डर लगता है कि कहीं इसे कोई भयंकर बीमारी न लग गई हो और तब मैं क्या करूँगा–उसे किस अस्पताल में ले जाऊँगा, इलाज की कैसे व्यवस्था करूँगा ।

इस डर की वजह से कितने-कितने घंटे मैंने तनाव में गुजारे हैं–एक पत्ते की तरह काँपते हुए, होठों

में प्रार्थनाएँ बुदबुदाते हुए कि किसी तरह संकट का यह क्षण कटे ।

बाहर गए हुए आदमी को जब घर लौटने में देर होती है, जब उसके लौटने की संभावित घड़ी भी बीतने लगती है, मन डर से घिर जाता है । मन तमाम तरह की अप्रिय कल्पनाएँ करने लगता है । फिर अनायास ही प्रार्थनाएँ, समय बीतते जाने का अहसास नसों में धड़-धड़ की तरह गूँजने लगता है । प्रतीक्षा का डर । फिर जब लगता है कि प्रतीक्षा की घड़ी बीत गई, समय गुजर गया, तब बाहर वाला आदमी लौट आता है, सही-सलामत; और नसों का तनाव दिल की कई धड़कनों के साथ छूट जाता है ।

पार्क में खेलने गए बच्चे–शाम का अँधेरा घिर आने के बाद–एकाएक जब वहाँ नहीं दिखने लगते, तब 'कहाँ गए' की अकुलाहट कोई उत्तर देर तक न पाकर डर में बदलने लगती है ।

मन इतना कमजोर हो गया है कि उसमें डर बड़ी आसानी से घुस आता है ।

(12)

3 मार्च 81

अपने को काटता-पीटता हुआ यह आदमी दुनिया के आगे एकजुट और साबुत बने रहने की जिजीविषा में हरदम तना हुआ–किसी लक्ष्य पार छूटने को कसा हुआ रहता है ।

❑❑❑

अभ्यास

पाठ के साथ

1. डायरी क्या है ?
2. डायरी का लिखा जाना क्यों मुश्किल है ?
3. किस तारीख की डायरी आपको सबसे प्रभावी लगी और क्यों ?
4. डायरी के इन अंशों में मलयज की गहरी संवेदना घुली हुई है । इसे प्रमाणित करें ।
5. व्याख्या करें–
   (क) आदमी यथार्थ को जीता ही नहीं, यथार्थ को रचता भी है ।
   (ख) इस संसार से संपृक्ति एक रचनात्मक कर्म है । इस कर्म के बिना मानवीयता अधूरी है ।
6. 'धरती का क्षण' से क्या आशय है ?
7. रचे हुए यथार्थ और भोगे हुए यथार्थ में क्या संबंध है ?
8. लेखक के अनुसार सुरक्षा कहाँ है ? वह डायरी को किस रूप में देखना चाहता है ?
9. डायरी के इन अंशों से लेखक के जिस 'मूड' का अनुभव आपको होता है, उसका परिचय अपने शब्दों में दीजिए ।
10. अर्थ स्पष्ट करें -
    एक कलाकार के लिए यह निहायत जरूरी है कि उसमें 'आग' हो – और वह खुद 'ठंढा' हो ।
11. चित्रकारी की किताब में लेखक ने कौन सा रंग सिद्धांत पढ़ा था ?
12. 11 जून 78 की डायरी से शब्द और अर्थ के संबंध पर क्या प्रकाश पड़ता है ? अपने शब्दों में लिखें ।

13. रचना और दस्तावेज में क्या फर्क है ? लेखक दस्तावेज को रचना के लिए कैसे जरूरी बताता है ?
14. लेखक अपने किस डर की बात करता है ? इस डर की खासियत क्या है ? अपने शब्दों में लिखिए ।

पाठ के आस-पास

1. डायरी क्यों लिखनी चाहिए ? डायरी लिखना आपके व्यक्तित्व में क्या परिवर्तन ला सकता है ? सोचिए । अपने मित्रों से चर्चा कीजिए और तब बताइए ।
2. क्या आप डायरी लिखते हैं, यदि नहीं तो क्यों; यदि हाँ तो आप अपनी डायरी को मलयज की डायरी से किस तरह भिन्न कहेंगे ?
3. बापू नियमित डायरी लिखते थे, क्या आपने उनकी डायरी पढ़ी है ? इसे उपलब्ध कीजिए और पढ़िए ।
4. हिंदी के कई साहित्यकारों जैसे - अज्ञेय, दिनकर, शमशेर बहादुर सिंह आदि की डायरियाँ प्रकाशित हैं । पुस्तकालय से इन्हें उपलब्ध कर पढ़ें ।
5. डायरी लेखन में लेखक से क्या अपेक्षा रहती है ?

भाषा की बात

1. अर्थ की दृष्टि से निम्नलिखित वाक्यों की प्रकृति बताएँ -
   (क) मौसम एकदम से ठंढा हो गया है ।
   (ख) हवाओं में ये कैसी महक है ।
   (ग) आज भी कोई चिट्ठी नहीं ।
   (घ) तबियत किस कदर बेजार हो उठी है ।
   (ङ) सुरक्षा डायरी में भी नहीं ।
   (च) मेरे भीतर इन दिनों कितने शब्द भरे पड़े हैं, या अर्थ ?
2. नीचे लिखे वाक्यों से सरल, मिश्र एवं संयुक्त वाक्यों को छाँटें -
   (क) हर आदमी उस संसार को रचता है जिसमें वह जीता है और भोगता है ।
   (ख) आदमी यथार्थ को जीता ही नहीं, यथार्थ को रचता भी है ।
   (ग) सुबह से ही पेड़ काटे जा रहे हैं ।
   (घ) कल शाम से रोज इसी समय एक बहुत प्यारी सी गंध हवा में उड़कर मेरे बारजे तक आती है ।
3. उत्पत्ति की दृष्टि से निम्नलिखित शब्दों की प्रकृति बताएँ -
   अस्फुट, मौसम, निहायत, गुलदान, संयत, रुदन, आग, मेंड़, जर्द, महक, स्फूर्ति, गुंजाइश, चढ़ाई, सत्य, यथार्थ, सुरक्षा, रिश्ता, मुश्किल, घोसला

शब्द निधि

सरसब्ज	:	हरा-भरा	बेजार	:	परेशान, बदहाल
हरिताभा	:	हरी चमक	ताब	:	उत्साह
अस्फुट	:	दबी-दबी, पूरी तरह प्रकट नहीं	बारजे	:	गैलरी
ऐशवुड	:	आग से तुरंत न जलने वाली लकड़ी	संपृक्ति	:	जुड़ाव (संपर्क से बना शब्द)
जर्द	:	पीला	आदिस्रोत	:	मूलस्रोत
चिलक	:	सूखकर फटने की आवाज या स्थिति	प्रस्फुटन	:	खिलना